

अपोहवाद (बौद्ध दर्शन)

ज्योति केसरी

शोध छात्रा

दर्शनशास्त्र विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

इलाहाबाद।

बौद्ध दार्शनिक के अनुसार शब्द का अर्थ अपोहात्मक है। अपोह का तात्पर्य है— 'अतद्व्यावृत्ति' अर्थात् तद्भिन्नभेद। अपोह से अन्य की व्यावृत्ति करके ही अर्थज्ञान होता है। जैसे, 'गाय' शब्द से गाय पशु का ज्ञान 'अगो (जो गाय नहीं है, जैसे अश्वादि) के निषेध से होता है। अतः बौद्धों के मत में शब्द का अर्थ निषेधात्मक है। शब्द वस्तु की सत्ता का नहीं, प्रत्युत् तद्भिन्न से उसकी व्यावृत्ति का ज्ञान कराते हैं। बौद्धों का यही सिद्धान्त अपोहवाद कहा जाता है। अर्थ विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में बौद्धों का अपोहवाद का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि इस समस्या का सम्बन्ध पद के संकेत से है, किंतु इस पर जो चिंतन हुआ, उससे यह न केवल पद विज्ञान का, अपितु समग्र अर्थ विज्ञान का भी एक महत्वपूर्ण पहलू बन गया है।

बौद्ध दर्शन में अपोहवाद भाषिक सिद्धान्तों में प्रमुख स्थान रखता है। अनित्यवाद की स्थापना में बौद्धों के समक्ष सबसे बड़ी समस्या आकृति 'जाति' या सामान्य का सिद्धान्त था। बौद्ध यदि व्यक्ति के अतिरिक्त जाति जैसी किसी सत्ता को स्वीकार करते हैं तो अनित्यवाद की स्थापना नहीं हो सकती। अतः बौद्धों ने जाति का खण्डन किया। जनसामान्य अनेक वस्तुओं में एकता का जो दर्शन करता है उसका समाधान किये बिना जाति का खण्डन भी संभव नहीं हुआ। फलस्वरूप बौद्धों ने एक ऐसे सिद्धान्त की स्थापना किया जिससे उनके मतानुसार 'जाति' का निरसन हो जाता है और अनेक वस्तुओं में एकता का भी विश्लेषण हो जाता है। इसी को वे अपोह कहते हैं।

बौद्ध के मतानुसार जाति की सत्ता नहीं है। एक गाय और दूसरी गाय में 'गाय' नाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिसको जाति या सामान्य कहा जा सकें। अतः वे वस्तुओं का ज्ञान अपोह के द्वारा करते हैं। **दिङ्नाग** के अनुसार अपोह का अर्थ है कि अन्य सर्व प्राणियों की व्यावृत्ति के बाद सम्बद्ध वस्तु का अनुमान से ज्ञान। **दिङ्नाग** के अनुसार शब्द, संप्रत्यय और नाम किसी वस्तु के अस्तित्व का बोध नहीं कराते। हम मिथ्या धारणावश यह सोचते हैं कि उनसे किसी वस्तु का बोध होता है। वस्तुतः वे प्रतिषेध-मूलक है¹ और किसी वस्तु के अस्तित्व का संकेत उस वस्तु से भिन्न वस्तुओं का निषेध करते हैं।² **जिनेन्द्रबुद्धि** के अनुसार अपोह का अर्थ प्रत्येक सत्ता का निषेध नहीं है। यह बुद्धि द्वारा कल्पित मानसिक प्रतिबिम्ब का निषेध करता है, न कि स्वलक्षण का, जो उसका आधार है। **शांतरक्षित** और **कमलशील** भी जिनेन्द्र बुद्धि के इस अर्थ का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार एक अपोह उदाहरण के लिए गाय का तत्व एक दूसरे अपोह अर्थात् अश्व के तत्व से भिन्न है।³ **कमलशील** के अनुसार वस्तु का मानसिक प्रतिबिम्ब अपोह का मुख्य अर्थ है और अन्य वस्तुओं के मानसिक प्रतिबिम्बों की व्यावृत्ति उसका गौण अर्थ है।⁴ **रत्नकीर्ति** के अनुसार अपोह से किसी वस्तु के प्रतिबिम्ब की विध्यात्मक सत्ता और अन्य वस्तुओं के प्रतिबिम्बों के निषेध का बोध एक साथ होता है।

बौद्ध एवं नैयायिक दोनों यह मानते हैं कि अपोह या जाति के दो कार्य हैं। ये एक वर्ग की सभी वस्तुओं को उस वर्ग में समाविष्ट करते हैं और अन्य वर्ग की वस्तुओं को उस वर्ग से अलग करते हैं। दोनों में अन्तर इस बात में है कि नैयायिक के अनुसार जाति एक विध्यात्मक और वास्तविक सत्ता है जो समवाय सम्बन्ध से अपने वर्ग की प्रत्येक वस्तु में सामान्य के रूप में विद्यमान है। इसी गुण के आधार पर कोई वस्तु एक वर्ग विशेष से सम्बद्ध होती है, अन्य वर्ग से नहीं। इसके विपरीत अपोह प्रतिषेधात्मक और कल्पित प्रत्यय हैं जिनसे वस्तुओं के सादृश्य का बोध होता है और यह सादृश्य अधिक भिन्न वस्तुओं की तुलना में कम भिन्न वस्तुओं की भिन्नता की उपेक्षा में निहित है। इन्हें प्रतिषेधात्मक कहा जाता है।

इसकी तुलना हेगल के निषेध के प्रत्यय से किया जा सकता। दोनों में अन्तर यह है कि हेगल का निषेध निरपेक्ष तत्व है। यह परमतत्व का स्वभाव है। **पेलेगी, मिल, कैम्पेनला** आदि आधुनिक तर्कशास्त्री भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व अन्य वस्तुओं की व्यावृत्ति में है। **पेलेगी** के अनुसार जैसे ही हम चिंतन प्रारम्भ करते हैं और अपने भावों को शब्दों द्वारा व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं, वैसे ही हमारा वर्ण विषय व्यावृत्त्यात्मक हो जाता है और विचार प्रतिषेधात्मक।⁵ आधुनिक युग के तार्किक भाववादियों के सामान्य सिद्धान्त से भी अपोहवाद की पुष्टि होती है। दोनों में अन्तर इस बात में है कि विज्ञानवादी का अपोह प्रतिषेधात्मक है किंतु तार्किक भाववादियों और पाश्चात्य नामवादियों के अनुसार सामान्य विध्यात्मक है।

शांतरक्षित ने अपोह के दो भेद किये हैं— पर्युदास (सापेक्ष अभाव) और (2) निषेध या प्रसज्य प्रतिषेध (आत्यन्तिक अभाव)। पर्युदास के भी दो भेद हैं— (1) बुद्ध्यात्मन् (प्रत्यय—भेद पर आधारित है) और (2) अर्थात्मन् (वस्तु—भेद पर आधारित है)।

बुद्ध्यात्मन् ही वास्तविक अपोह है। यही किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब उत्पन्न कर वास्तविक वस्तु की भ्रांति को जन्म देता है। अप्रत्यक्ष रूप से इसी के द्वारा अन्य वस्तुओं की व्यावृत्ति भी हो जाती है। अर्थात्मन् को वास्तविक अपोह नहीं कहा जाता है। इसे मात्र अपोह का आधार कहा जाता है।

अपोहवाद की स्थापना दिङ्नाग की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। विज्ञानवाद की ज्ञानमीमांसा के लिए यह नितान्त आवश्यक है। बुद्धि इसी की सहायता से निर्विकल्प संवेदनों से एक वास्तविक जगत् भ्रांति को जन्म देती है।

नैयायिकों एवं मीमांसकों ने अपोहवाद के खण्डन के लिए एक तो जाति के अस्तित्व का प्रतिपादन किया और दूसरे अपोह के समर्थन में बौद्धों द्वारा प्रस्तुत तर्कों का खण्डन किया। **उद्योतकर** के बाद प्रायः सभी नैयायिकों ने अपोहवाद का खण्डन किया है।

बौद्ध प्रमाण व्यवस्था को मानते हैं। उन्होंने दो प्रकार के प्रमेय माने हैं— स्वलक्षण और सामान्य लक्षण और उनके ज्ञान के लिए क्रमशः दो ही प्रमाण मानते हैं— प्रत्यक्ष और अनुमान। उनके मतानुसार जैसे अनुमान परोक्ष अर्थ के लिए प्रवृत्त होता है वैसे शब्द नहीं होता। अतः शब्द को प्रमाण नहीं माना जा सकता।⁶

शब्द का वाह्यार्थ के साथ अविसंवाद नहीं होने से प्रमाण नहीं माना जा सकता। शब्द और अर्थ के बीच तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं होता है। तादात्म्य इसलिए होता है कि दोनों भिन्न रूप में प्रतिभासित होता है और उत्पत्ति इसलिए नहीं कि दोनों में अन्वय—व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं। अतः शब्द से केवल वक्ता की विवक्षा का पता चलता है और विवक्षा अज्ञान से भी हो सकती है।⁷ धर्मकीर्ति के इन कथनों का शांतरक्षित और मोक्षाकर गुप्त आदि ने भी समर्थन किया। शांतरक्षित ने पहले तो विसंवादी होने के कारण शब्द को अप्रमाण ही बताया किंतु बाद में शब्दार्थ सम्बन्ध की समीक्षा करते हुए कहा कि शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में किया जाना चाहिए क्योंकि सम्पूर्ण वचनों द्वारा वक्ता की विवक्षा का अनुमान किया जाता है। इनमें कार्यकरण भाव का निश्चय प्रत्यक्ष और अनुलम्ब से किया जाता है। अतः शब्द प्रमाण प्रमिति का पृथक साधन नहीं है।⁸

दिङ्नाग के अनुसार शब्द के द्वारा अर्थ का निश्चय अनुमान प्रमाण से हाता है और शब्द सुनने के बाद होने वाला यथार्थ ज्ञान अर्थ से प्रत्यक्ष होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण है। अतः दिङ्नाग भी शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष और अनुमान में करते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में बौद्ध दर्शन अस्वीकार करता है। दूसरी तरफ न्याय इसे स्वतन्त्र प्रमाण मानता है। बौद्धेत्तर सभी दार्शनिकों ने बौद्ध अपोहवाद का खण्डन किया है। कुमारिल भट्ट का प्रश्न है कि अपोह एक है या अनेक ? यदि अनन्त कौओं के ज्ञान के लिए एक ही अपोह माना जाय, तो यह मान्यता जाति से भिन्न न होकर जाति सदृश ही हो जायेगी और यदि अनेक अपोह माने जायँ, तो अनन्त पिण्डों में अनन्त अपोह

मानना पड़ेगा और ऐसा मानने पर आनन्त्य दोष की उत्पत्ति होगी। नैयायिकों का कहना है कि मुख्य (तद्) को समझे बिना तदितर (अतद्) का प्रतिषेध भी नहीं किया जा सकता। 'गौ' को समझे बिना 'अगौ' का ज्ञान नहीं हो सकता।

अपोहवाद को मानने पर एक कठिनाई सामने यह आती है कि अपोह का विषय 'गौ' है या 'अगौ' ? यदि 'गौ' है तो 'गौ' का अर्थ 'गो भिन्न' नहीं समझा जा सकता और यदि 'अगौ' है, तो उसका अर्थ 'गाय' कैसे माना जा सकता है ? एक बार जब 'गौ' शब्द अन्य की 'व्यावृत्ति में चिरतार्थ हो गया, तो फिर उससे गाय का ग्रहण नहीं हो सकता है।

पुनश्च बहुत सारे शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ अपोह के द्वारा व्यक्त नहीं हो सकता। जैसे, 'सर्व'। इन्हीं कठिनाइयों के कारण बौद्धेतर दार्शनिकों ने अपोहवाद को अस्वीकार कर दिया।

1. प्रमाणसमुच्चय, 5/1.
2. प्रमाणसमुच्चयवृत्तिटीका, पृ० 287, बुद्धिस्ट लॉजिक, भाग 1, पृ० 467-470.
3. तत्त्वसंग्रह, 104.
4. प्रतिबिम्ब लक्षणोऽपोहः साक्षाच्छब्दैरूपजन्यमानत्वात् मुख्यः शब्दार्थः— तत्त्वसंग्रह पण्डितिका, पृ० 319.
5. अपोहसिद्धि, पृ० 31.
6. बुद्धिस्ट लॉजिक, भाग 1, पृ० 487 पर उद्भव।
7. प्र० पा० भा० (अनुमान प्रकरण)।
8. न्या० कु० का० 13.

—